Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2018 SHISRRJ | Volume 1 | Issue 3 | ISSN : 2581- 6306

काव्य में रस-तत्त्व विवेचन

डॉ० सुनील कुमार सिन्हा
पी० जी० टी० (संस्कृत)
राजकीयकृत + 2 उच्च विद्यालय, जयनगर,
कोडरमा, झारखण्ड, भारत।

सारांश – रस काव्य की आत्मा मानी जाती है। रस सहृदयों के हृदय में सर्वोपरि आनन्द का संचार करनेवाले काव्य का सारभूत तत्त्व है। रस को आस्वाद, आनन्द, काव्यानुभूति, काव्योत्कर्ष इत्यादि के अर्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र में लिया गया है। भरत ने रसनिष्पत्ति का सूत्र बताते हुए कहा कि विभावों, अनुभावों और व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रससूत्र के चार प्रमुख व्याख्याकार हुए जिन्होंने संयोग और निष्पत्ति की व्याख्या की। इन चारों में अन्तिम आचार्य अभिनवगुप्त का सिद्धान्त प्राय: सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता है।

प्रमुख शब्द – काव्यशास्त्र, रससूत्र, भरत, व्याख्याकार, भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, साधारणीकरण, संयोग, निष्पत्ति।

I. **रस-शब्दार्थ विवेचन** - आस्वादन या स्नेह अर्थ में रस् धातु से घञर्थक 'क' प्रत्यय अथवा कर्त्ता के अर्थ वाले 'अच्' प्रत्यय अथवा 'घ' प्रत्यय से निष्पन्न रस शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से दी गई है–

(क) **रसयति इति रस:** अर्थात् जो आनन्द देता है।

(ख) **रस्यते इति रस:** अर्थात् आनन्द पाना रस है।

(ग) **रस्यते अनेन इति रस:** अर्थात् जिसके माध्यम से आनन्द मिले वह रस है।

आचार्य डा. जयमन्त मिश्र ने काव्यात्ममीमांसा में उपर्युक्त व्युत्पत्तियाँ दी हैं। एक दूसरे ग्रन्थ 'रस–विमर्श:' के प्रथम पृष्ठ पर एक श्लोक दिया गया है जिसमें रस के अठारह अर्थ दिये गये हैं। इसमें श्लोक है–

रस: स्वादे जले वीर्ये शृंगारादौ विषे द्रवे।
बले रागे गृहे धातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च।
प्रेम्णि भावे ह्यात्मनि च सुपेये स्वरसे सुखे।।(1)

उपर्युक्त अठारह अर्थों में रस शब्द का प्रयोग होता है। काव्यों में ये अर्थ बहुधा लिये जाते है किन्तु सामान्यत: इसके चार मुख्य अर्थ हैं–

(i) जिह्वा पर आस्वादन के भेद के रूप में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त के रूप में छह रस हैं। ज्योतिषशास्त्र में जब अंकों का वामक्रम से निरूपण होता है तो रस शब्द से छह संख्या का ही बोध किया जाता है।

(ii) आयुर्वेद में पारद आदि को रस कहा जाता है इस शास्त्र में रसों और रसायनों का विशेष महत्त्व है जिनसे औषध बनते है।

(iii) मुक्ति रस या भक्ति रस को भी रस के रूप में देखा जाता है।

(iv) साहित्य शास्त्र में शृंगार आदि नौ रसों को रस कहा जाता है तथा इसके अंतर्गत भाव, रसाभास या भावभास को भी रस कहते हैं जैसे – विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हुए इन सभी तथ्यों का समावेश रस में किया है। (2)

II. **विभिन्न काव्यशास्त्रियों का रस चिन्तन** –सहृदयों के हृदय में सर्वोपरि आनन्द का संचार करनेवाले काव्य का सारभूत तत्त्व रस है, इसे प्रायः सभी आचार्य किसी–न–किसी रूप में स्वीकार करते हैं, रस के समक्ष अन्य काव्य–तत्त्व या उपादान गुणीभूत (अप्रधान) हो जाते हैं। जब हम काव्य के विविध प्रयोजनों पर दृष्टिपात करते हैं तो वहाँ प्रीति या परनिर्वृत्ति को सभी प्रयोजनों का शिरोमणि कहा जाता है। (3) यह उत्कृष्ट प्रयोजन रसानुभूति से उत्पन्न आनन्द ही है। इसलिए कोई भी आचार्य यदि काव्य को आनन्द देनेवाला कहता है; तो उसे रस का महत्त्व स्वीकार करना ही है।

भरत मुनि एक प्रकार से प्रथम काव्यशास्त्री कहे जाते हैं। उन्होंने मुख्य रूप से नाट्य के संदर्भ में ही सारी बातें की है किन्तु उनके कुछ निरीक्षण काव्य–मात्र के लिए उपादेय हैं। नाट्य संदर्भ में ही उन्होंने कहा है– **न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।** (4)

अर्थात् नाट्य में कोई भी बात रस की उपेक्षा करके नहीं हो सकती। सम्पूर्ण नाट्य– जगत् रसात्मक है। इसी स्वर में दशरूपककार धनंजय ने रूपकों को दस भागों में विभक्त करते हुए सबको रसात्मक माना है–दशधैव रसाश्रयम्। भरत मुनि नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भी कहते हैं–

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।। (5)

भरत ने काव्यलक्षण देते हुए भी **'बहुकृतरसमार्गसंधिसंधानयुक्तम्'** कहा है। (6) इससे रसतत्त्व को सर्वप्रथम उद्भावित करने का श्रेय भरत मुनि को दिया जाता है।

आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में काव्य को लोकस्वभाव के साथ–साथ सभी रसों से पृथक्–पृथक् संयुक्त होने की बात कही है। **(युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्)**। (7) आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में महाकाव्य का लक्ष्य देते हुए कहा है कि इसे अलङ्कारयुक्त, असंक्षिप्त तथा रसों और भावों से निरन्तर परिपूर्ण होना चाहिए– **'अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।'** (8) भामह ने इस प्रसंग में कहा है कि कोई शास्त्र–चर्चा भी रस के मिश्रण से उपादेय हो जाती है, सबको आकृष्ट करती है, जैसे मधु के मिश्रण से कटु–भेषज भी ग्राह्य हो जाता है। (9)

आचार्य रूद्रट की स्थिति संस्कृत काव्यशास्त्र में अत्यधिक मौलिक है जो एक ओर अलंकार–सिद्धांत से और दूसरी ओर ध्वनि सिद्धांत से प्रभावित है। वे रस की प्रशंसा करते हुए दण्डी के समान महाकाव्य में रस का नैरन्तर्य मानते हैं। वे काव्यालंकार के सोलहवें अध्याय के आरम्भ में बताते हैं कि चतुर्वर्गों को कवि रस के साथ प्रबंध–काव्यों में निबद्ध करे–

जगति चतुर्वर्ग इति ख्यातिधर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
सम्यक् तानभिदध्याद्रससंमिश्रान् प्रबन्धेषु।। (10)

इतना ही नहीं वे चौदहवें अध्याय का उपसंहार करते हुए रसों में शृंगार रस की प्रधानता प्रकट करते हैं, और इसके बिना काव्य को हीन भी बताते हैं–

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नाद्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्।। (11)

– काव्यादर्श 1.18 (पूर्वार्ध) भामह काव्यालंकार 5.3 रूद्रट काव्यालंकार 16.1 रूद्रट काव्यालंकार 14.38

ध्वनिवादियों का रस के सन्दर्भ में अभिमत तो सर्वविदित है कि वे ध्वनि के क्रमिक उत्कर्ष में रस को सर्वोपरि स्थान देते हैं। वस्तु ध्वनि और अलंकार–ध्वनि से रसादि ध्वनि निश्चित रूप से उत्कृष्ट है।

'रससूत्र' (12) की व्याख्या ध्वनि–सिद्धान्त के उद्भव के आस–पास होने लगी थी, भरत ने जो रस को विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से निष्पन्न होना बताया था उसमें संयोग और निष्पत्ति शब्द को लेकर भरत के मौन धारण ने इन व्याख्याकारों को अवसर प्रदान कर दिया। 1000 ई. के पूर्व से ही भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने भरत की व्याख्या करते हुए रससूत्र के इन दो शब्दों को अपने–अपने शास्त्र के अनुसार समझाया जो इस तालिका में देख सकते है–

व्याख्याकार	संयोग	निष्पत्ति
1. भट्टलोल्लट	उत्पाद्य-उत्पादक भाव	उत्पत्ति
2.श्रीशंकुक	गम्य-गमक भाव	अनुमिति
3. भट्टनायक	भोज्य- भोजक भाव	भुक्ति
4. अभिनवगुप्त	अभिव्यंग्य- अभिव्यञ्जक भाव	अभिव्यक्ति

इस प्रकार रस-निष्पत्ति के चार सिद्धान्त उत्पन्न हुए- रसोत्पत्तिवाद, रसानुमितिवाद, रसभुक्तिवाद तथा रसाभिव्यक्तिवाद। सर्वश्रेष्ठ व्याख्या अभिनवगुप्त की ही है जिन्होंने रस को व्यञ्जना-वृत्ति का विषय बताकर विभावादि से अभिव्यंग्य कहा।

भट्टनायक और अभिनवगुप्त दोनों ने साधारणीकरण नामक व्यापार का रसानुभूति के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण योगदान बताया। इसी के कारण सहृदय अपने देश-काल से पृथक् होने पर भी तथागत विभावादि का आनन्द लेता है।

बाद के आलोचकों ने ध्वनिवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखाया। जब सोलहवीं शताब्दी में कृष्णभक्ति का उद्भव अंकित करते हुए भक्ति-रस को एक स्वतंत्र रस का स्थान दिया गया तब भी ध्वनिवाद का प्रभाव परिलक्षित होता ही रहा। बीच में भोजराज ने अपने आकर-ग्रन्थ शृंगारप्रकाश और सरस्वतीकण्ठाभरण के द्वारा रस-सिद्धान्त की जो शल्य-किया की वह मौलिकता के अतिरिक्त उनकी सर्व विद्या संपन्नता का द्योतक भी बनी। इसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति के अंतर्गत सभी रसों का समावेश किया जैसा कि भोज ने शृंगार में सभी रसों को ढालने का प्रयास किया था।

III. रस स्वरूप

रस को आस्वाद, आनन्द, काव्यानुभूति, काव्योत्कर्ष इत्यादि के अर्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र में लिया गया है। अलंकारवादियों ने रस को अलंकार में और ध्वनिवादियों ने रस को ध्वनि के अंतर्गत समाविष्ट करने का अत्यधिक प्रयास किया है। समस्त रस विवेचन का आधार भरत का रससूत्र है जो नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में श्लोक संख्या एकत्तीस के बाद गद्यवाक्य में निहित है। वह इस प्रकार है-

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् विभावों, अनुभावों और व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत ने नाट्यशास्त्र में इसकी साधारण व्याख्या करते हुए कहा है कि जैसे अनेक प्रकार के व्यञ्जनों तथा औषधि- द्रव्यों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है वैसे ही अनेक भावों के मिल जाने से नाट्य में रस-निष्पत्ति होती है।

भारत ने रस की रसनेन्द्रिय के लौकिक गुणों से तुलना करते हुए कहा है कि जैसे गुड़ आदि द्रव्यों से और विभिन्न मसालों या औषधियों के प्रयोग से छह रस जिह्वा पर आस्वादित होते है उसी प्रकार नाना भावों से उपहित होकर स्थायिभाव रस का स्वरूप प्राप्त करते हैं-

'यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड्रसा निवर्तन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।' (13)

इस प्रकार विभावादि के रहने पर ही रस का रूप-निर्धारण होता है, उनके अभाव में नहीं। भारत ने रस को आस्वाद्य बताया है। जैसे- अनेक उपकरणों (मसालों) से संस्कृत अन्न का भोजन करते हए लोग रस का आस्वादन करते है (रसान् आस्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः) और हर्ष आदि की अनुभूति करते हैं। उसी प्रकार अनेक भावों के अभिनयों से व्यञ्जित तथा वाचिक, आङ्गिक, सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन सहृदय दर्शक करते हैं। इसीलिए इन्हें नाट्य रस कहा जाता है। इस भाव को प्रकट करने के लिए भरत मुनि ने दो श्लोक दिए हैं-

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुलभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुजाना भुक्तं भुक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥ (14)

इससे रस का मौलिक स्वरूप ज्ञात होता है कि वह एक अनुभूति है। सभी अनुभूतियों से बढ़कर आनंद या आस्वादन की अनुभूति है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में एक विशिष्ट शैली में रस का आस्वादन प्रकार निरूपित किया है। तदनुसार चित्त में जब रजोगुण या तमोगुण का सम्पर्क नहीं रहता अर्थात् सत्त्वगुण का उद्रेक होता है उस समय स्वप्रकाशमय आनन्दस्वरूप ब्रह्मास्वाद के समान रस का आस्वादन होता है। विश्व के समस्त ज्ञेय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं। अखण्ड रूप से एकमात्र रस का ही असवादन होता है। इस समय चित्त का विस्तार हो जाता है। आत्मा में और रस में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता (स्वाकारवद् अभिन्नत्वेन)। किन्तु यह चमत्कारमय रस किसी पुण्यशालियों के द्वारा अनुभूत किया जाता है। सभी लोग रसास्वादन के पात्र नहीं हैं-

सत्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्द-चिन्मयः।
वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः॥
लोकोत्तर-चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवद-भिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रसः॥ (15)

विश्वनाथ ने रस-स्वरूप के विषय में निष्कृष्ट सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जो सबसे बढ़कर है। इसके पूर्ववर्ती सभी सिद्धांत इस आस्वाद प्रकार में समविष्ट हो जाते हैं। रसानुभूति अलौकिक अनुभूति है, जिसकी तुलना किसी भी सांसरिक अनुभूति से नहीं हो सकती। आचार्यों ने कुछ संकेत इस अनुभूति की तुलना के लिए दिए हैं किन्तु वे समझने में ही सहायक हो सकते हैं, इसके आगे नहीं। जैसे यह कहा गया है कि प्रपाणक रस के समान रस का आनन्द मिलता है। जैसे प्रपाण रस में मिर्च, इमली, मिश्री, इलायची, बादाम इत्यादि घटक द्रव्यों का स्वाद एकाकार हो जाता है उनमें पार्थक्य की अनुभूति नहीं होती। उसी प्रकार रस में भी विभावादि घटक पदार्थों की पृथक् रूप में अनुभूति नहीं होती। सबकुछ एकाकार हो जाता है।

IV. भरतकृत रससूत्र की व्याख्या (निष्पत्ति सिद्धान्त)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भरत ने अपने रससूत्र की व्याख्या करते हुए विभाव आदि को तो बहुत समझाया किन्तु कुछ विषयों पर वे मौन रह गये। जैसे 'संयोग' का स्वरूप क्या है और 'निष्पत्ति' का क्या तात्पर्य है इसे उन्होंने नहीं समझाया। इन्हीं बातों को स्पष्ट करने के लिए नाट्यशास्त्र के चार व्याख्याताओं ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये। जो काव्यशास्त्र में उत्पत्तिवाद (आरोपवाद), अनुमितिवाद, भुक्तिवाद (उपभोगवाद) तथा अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है।' (16) अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय की व्याख्या में अपने पूर्ववर्ती मतों का निरसन करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। अन्य आचार्यों के मतों को प्रथम बार इसी टीका (अभिनवभारती) से जाना जाता है। क्योंकि पूर्ववर्ती व्याख्याकार भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक तथा भट्टनायक के मौलिक व्याख्यांश लुप्त हो चुके हैं। पुनः अभिनवगुप्त के ध्वन्यालोकलोचन, काव्यप्रकाश तथा हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में भी उपर्युक्त आचार्यों के विचार संक्षिप्त रूप में प्राप्त होते हैं। यहाँ रस-निष्पत्ति संबंधी सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में, सोपान रूप में, इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि उनके योगदान को अंकित किया जा सके।

(क) भट्टलोल्लट का रसोत्पत्तिवाद

भटलोल्लट का कहना है कि स्थायी भाव के साथ जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग होता है तो रस की उत्पत्ति होती है। विभाव अर्थात् स्त्री आदि आलंबन तथा उद्यान आदि उद्दीपन कारणों से रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्यों से स्थायी भाव को प्रतीति योग्य बनाया जाता है। व्यभिचारी भावों से उसे पुष्ट किया जाता है। भट्टनायक के अनुसार अनुकार्य रामादि नायक में मुख्य वृत्ति से रसोत्पत्ति होती है, किन्तु अभिनेता में भी रामादि रूप का अनुभव होने से स्थायी भाव की प्रतीति होती है जिससे रस उत्पन्न होता है।

इस मत के अनुसार रस मुख्यतः अनुकार्य में होता है किन्तु अनुकार्य के स्वरूप का अनुसंधान करने से अभिनेता में भी वह प्रतीयमान होता है। यह मत भरत के मूल विचार के निकट है। इसमें स्थायिभाव का निरूपण होने से स्पष्ट होता है कि विभावादि का रत्यादि स्थायी भाव से संयोग होने पर ही रस-निष्पत्ति होती है। भट्टलोल्लट ने पहली बार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का पृथक्-पृथक् योगदान बताया। उन्होंने यह कहा कि रस का आश्रय अनुकार्य है किन्तु अनुकर्ता में भी उसकी प्रतीति होती है। क्योंकि अभिनेता में अनुकार्य का आरोप होता है। काव्य का मूल सौन्दर्य उसकी कथावस्तु या मूल-विषय में ही है। भट्टलोल्लट के दर्शन को मीमांसा दर्शन से अनुप्राणित माना जाता है।

(ख) श्रीशंकुक का रसानुमितिवाद

श्रीशंकुक ने भी नाट्यशास्त्र की टीका लिखी होगी जो अनुपलब्ध है। इनका मत अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन तथा काव्य प्रकाश में निरूपित है। ये न्याय-दर्शन के अनुयायी प्रतीत होते हैं क्योंकि रस को अनुमिति का विषय बनाया है। श्रीशंकुक ने सर्वप्रथम यह कहा कि दर्शक को अभिनेता में राम आदि मूल पात्रों की प्रतीति चित्र-तुरग न्याय से होती है। जैसे चित्र में अंकित तुरग (अश्व) को हम न सम्यक् प्रतीति कह सकते हैं, न मिथ्या प्रतीति, न संशय प्रतीति और न ही सादृश्य प्रतीति। इस प्रकार सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य-इन चारों प्रतीतियों से विलक्षण प्रतीति अभिनेता में राम आदि की होती है।

अभिनेता काव्य के रस संबंधी अर्थ का साक्षात् अनुभव तो करता ही है वह अपनी शिक्षा (प्रशिक्षण) और अभ्यास के बल पर रंगमंच पर अभिनय कार्य का संपादन करता है। उसके अभिनय कार्य से प्रकाशित कारण (विभाव), कार्य (अनुभाव) तथा सहकारी (व्यभिचारी भाव) भले ही कृत्रिम हों किन्तु दर्शकों के द्वारा कृत्रिम नहीं माने जाते ओर विभाव आदि के नाम से अभिहित होते हैं। दर्शक व्याप्ति संबंध से अभिनेता आदि में रति आदि भाव का अनुमान करते हैं। यह स्थायी रत्यादि अनुमित होने पर भी अपने सौन्दर्य के कारण आस्वादन के योग्य होता है। वह धूम- अग्नि आदि अन्य अनुमित पदार्थों से विलक्षण होता है। रत्यादि भाव नट में न होने पर भी उनमें स्थित प्रतीत होता है और सामाजिकों की वासना के द्वारा आस्वाद्यमान होकर वही रत्यादिभाव 'रस' कहलाता है।

श्रीशंकुक ने स्पष्टत: निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति माना है और संयोग का अर्थ लिया है अनुमाप्य-अनुमापक भाव। न्याय-दर्शन में प्रसिद्ध अनुमान प्रमाण के आधार पर रस की व्याख्या करते हुए श्रीशंकुक ने रस की अनुमिति का सिद्धान्त प्रवर्तित किया। श्रीशंकुक की कतिपय विशिष्टताएँ हैं-

(i) वे रस की स्थिति अनुकार्य में मानते हैं किन्तु सामाजिक अनुकर्ता (अभिनेता) में अनुमान करके आनन्द की प्राप्ति करता है।

(ii) स्थायी भाव के साथ विभावादि के संबंध का उन्होंने निरूपण किया। विभाव को कारण, अनुभव को कार्य ओर व्यभिचारी भाव को सहकारी के रूप में इन्होंने निरुपित किया।

(iii) भट्टलोल्लट से आगे बढ़कर श्रीशंकुक ने अनुकार्य के स्वरूप को स्पष्ट किया तथा नाटक में कवि द्वारा निबद्ध पात्र को ही अनुकार्य माना। लोल्लट ने मूल पात्र और कवि-निबद्ध पात्र के बीच अनुकार्य के स्वरूप के निर्धारण में भ्रांति उत्पन्न कर दी थी जिसे श्रीशंकुक ने स्पष्ट किया।

(iv) रस-निरूपण में सामाजिक अर्थात् प्रेक्षक के पक्ष को भी स्वीकार करके श्रीशंकुक ने नाटक में उसके व्यक्तित्व को महत्त्व दिया।

(v) अनुकरण और अनुमान के आधार पर श्रीशंकुक ने रस-विवेचन को दार्शनिक पीठिका प्रदान की।

(vi) चित्र-तुरग न्याय का आश्रय लेकर इन्होंने रस प्रतीति को लौकिक प्रतीतियों से ऊपर रखते हुए अलौकिकता की ओर कदम बढ़ाया।

(vii) जैसे चित्रांकित अश्व वास्तविक न होकर अनुकरण है उसी प्रकार अभिनेता वास्तविक रामादि न होकर उनका अनुकरण है। रस निष्पत्ति में अनुकृति और अनुमिति इन दो मौलिक व्यापारों का निर्देश इन्होंने किया।

(ग) भट्टनायक का रसभुक्तिवाद

उपर्युक्त ग्रन्थों में यह मत भी पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित किया गया है। इन्होंने रस के भोग या भुक्ति का निरूपण किया है। इनका कथन है कि रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है, न उसकी अभिव्यक्ति होती है। उदासीन अभिनेता तथा नायक के संबंध से भी इसकी प्रतीति नहीं होती और आत्मगत अर्थात् सामाजिक के संबंध से भी रस की प्रतीति नहीं होती। काव्य या नाटक में अभिधा और लक्षणा से भिन्न भावकत्व नामक व्यापार होता है जिसका स्वरूप विभावादि का साधारणी- करण है। उसी के द्वारा साधारणीकृत रत्यादि स्थायी भाव का भोग (आस्वाद) भोजकत्व-व्यापार द्वारा होता है। रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण के उद्रेक से होनेवाली प्रकाशात्मक तथा आनन्दात्मक अनुभूति ही उस भोग का स्वरूप है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद सांख्यशास्त्र से अनुमोदित कहा जाता है क्योंकि उसमें सत्त्व के उद्रेक तथा भोग का निरूपण है जो सांख्य दर्शन से संबद्ध है। भट्टनायक ने रस-विवेचन में तीन शब्दों का अभिनव प्रयोग किया- साधारणीकरण, भावकत्व-व्यापर तथा भोजकत्व-व्यापार। इनमें साधारणीकरण तो आगे चलकर रस-सिद्धान्त के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ किन्तु जो दो व्यापार इन्होंने प्रकल्पित किए वे अनुभव-सिद्ध न होने के कारण उपेक्षित हुए। भावकत्व-व्यापार के द्वारा काव्य में व्यक्ति-बोध को हटाकर व्यक्तित्व-

शून्य बोध की उपस्थापना की गयी। शकुन्तला और दुष्यन्त की जो प्रेम कथा अभिधावृत्ति के द्वारा रसबोध में व्यवधान उपस्थित करती थी अब सामान्य प्रेमकथा के रूप में प्रस्तुत होकर रसास्वादन कराने लगी। यही साधारणीकरण व्यापार कहा गया है। साधारणीकरण के बाद व्यक्ति अपने को उस कथा पात्र समझने लगता है और अपने-पराये का भेद किया जाता है। भावकत्व शक्ति के द्वारा व्यक्ति संवेदना युक्त होता है। रसास्वाद के लिए वही मन को तैयार करती है। भोजकत्व व्यापार रसानुभूति का अव्यवहित कारण है। आगे चलकर अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण को तो स्वीकार किया किन्तु भावकत्व-भोजकत्व जैसी अश्रुतपूर्व शक्तियों को व्यञ्जना-व्यापार में समेट लिया और रस की अत्यंत संतोषप्रद व्याख्या की।

(घ) अभिनवगुप्त का रसाभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त ने विभावादि को क्रमशः कारण कार्य और सहकारी के रूप में निरूपण करने के साथ यह दिखाया कि सहृदय लोग काव्य और नाटक में इन्हें कारणत्व आदि का परिहार करके क्रमशः विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण व्यापार द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी से रत्यादि को विभावन व्यापार द्वारा आस्वाद के योग्य बनाया जाता है। अनुभावन द्वारा आस्वाद योग्य रत्यादि का अनुभव को विषय बनाया जाता है एवं व्यभिचारण व्यापार द्वारा रत्यादि के प्रभाव का संचारन होता है। तदनन्तर साधारणीकृत व्यापार से विभावादि के परिमित-प्रमातृ भाव का विनाश हो जाता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सामाजिक उसमें संलग्न हो गया हो सामाजिक की स्थिति यह हो जाती है कि दूसरे किसी भी ज्ञातव्य पदार्थ के संपर्क से शून्य और अपरिमित-प्रमातृभाव उसमें उदित हो जाता है।

रसानुभूति के समय सामाजिक सभी हृदयों के साथ समान रूप से रसास्वादन करता है। रस आत्मा के समान आस्वाद से अभिन्न होने पर भी आस्वाद का विषय होकर, आस्वादमात्रस्वरूप विभावादि के स्थितिपर्यंत प्रपाक रस के समान अनुभूत होता है। जैसे प्रपाणक रस में इलायची, मिर्च, शक्कर, इमली आम आदि को मिलाकर शर्बत तैयार होता है और किसी भी घटक-द्रव्य का पृथक् स्वाद नहीं मिलता उसी प्रकार रसास्वाद में एकाकारता रहती है। विभावादि का पृथक् आस्वादन नहीं होता। रसानुभूति साक्षात् प्रतीति है, ऐसा लगता है कि ब्रह्म का साक्षात्कार हो रहा हो हृदय में वह रस प्रविष्ट हो रहा हो। वह अलौकिक आनन्द प्रदान करनेवाला चमत्कारी शृंगारादि रस होता है।

अभिनवगुप्त प्रत्यभिज्ञादर्शन या शिवाद्वैत के आचार्य थे। उसमें परम शिव को अरूप, असीम और अव्यक्त कहा गया है। उस मत के अनुसार ही परमानन्द के रूप में इन्होंने रस की व्याख्या की। सामाजिक से रस को संबद्ध करके उसे व्यावहारिक बनाया। समस्त नाट्य-तन्त्र सामाजिक के लिए ही होता है। सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायी भाव विभावन आदि व्यापार से अभिव्यक्त होकर रस का रूप धारण कर लेता है। जो स्थायी भाव सामान्य अवस्था में दबा रहता है वह अनुकूल अवसर आते ही उद्बुद्ध हो जाता है और उसकी परिणति रस के रूप में हो जाती है। रस व्यञ्जनावृत्ति का विषय है। सभी लोग इसका आस्वादन नहीं कर सकते। कुछ प्रमाता ही ऐसे भाग्यवान् हैं जो रसानुभूति कर सकते हैं। रसानुभूति करनेवाला सहृदय सामाजिक होता है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में रस का लक्षण अभिनवगुप्त के सिद्धांत के अनुसार ही दिया है कि लोक में जो रत्यादि स्थायिभाव के कारण, कार्य तथा सहकारी कहे जाते हैं वे नाट्य या काव्य में अर्पित हो जाने पर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। उन विभावादि से व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त होकर स्थायी भाव रस की संज्ञा प्राप्त करता है-

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ (17)

V. रसों की सुखदुःखात्मकता का विवेचन

रस-विवेचन के प्रसंग में प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने रस से संबद्ध एक आनुषंगिक प्रश्न पर भी अपनी दृष्टि डाली है। रस सुखात्मक है या दुःखात्मक- मूल प्रश्न यही है। इस विषय में तीन प्रकार के मत मिलते हैं। धनिक, धनंजय, विश्वनाथ आदि सभी रसों को सुखात्मक कहते हैं। इन लोगों ने करुण रस को भी सुखरूप कहा है। धनंजय तो रूपकों को रसाश्रय कहते हुए सबको 'आनन्दनिस्यन्दि' (दशरूपक 1.6) कहते हैं। उसपर टीकाकार धनिक ने 'परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलम्' ऐसी टिप्पणी दी है।' (18) दशरूपक के अन्त

में धनंजय कहते हैं कि सुखात्मक या दु:खात्मक ऐसा कोई भी तथ्य (अतथ्य भी) संसार में नहीं जिसे कवि और सहृदय समीक्षक अपने भावन–व्यापार से रस और भाव के रूप में न बदले दें–

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाडप्यवस्तु कवि-भावक-भाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुतुपैति लोके। (19)

आचार्य विश्वनाथ ने तो साहित्यदर्पण में यह प्रश्न सीधा उठाया है कि करूणादि रसों में लोगों को सुखानुभूति कैसे होती है। यदि वे वस्तुत: दु:खात्मक हैं तो उन्हें आनन्दस्वरूप रस की कोटि में क्यों रखा जाता है? इसका उत्तर आचार्य ने स्वयं दिया है

करूणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभव: प्रमाणं तत्र केवलम्।। (20)

अर्थात् करुण आदि रसों में जो परम आनन्द की प्राप्ति होती है उस विषय में केवल सहृदय जनों का अनुभव ही एकमात्र प्रमाण है। फिर भी कुछ लोग यदि सहृदयों के अनुभव को प्रमाण न मानना चाहें तो उनको उचित उत्तर देने के लिए विश्वनाथ आगे भी एक पद्य प्रस्तुत करते हैं:–

किं च तेषु यदा दु:खं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुख:।
तथा रामायणादीनां भविता दु:खहेतुतता। (21)

तात्पर्य है कि कोई व्यक्ति जिसे थोड़ा भी विवेक है, दु:ख पाना नहीं चाहता किन्तु करुण रस के काव्यों में सभी लोग आग्रहपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। यदि करुण रस वस्तुत: दु:खात्मक होता तो कोई उस रस के काव्य या नाटक की ओर झाँकता भी नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि करुण आदि रस सुखात्मक ही हैं, दु:खात्मक नहीं। इस प्रसंग में विश्वनाथ ने रामायण–जैसे करुण–रस–प्रधान काव्य का निर्देश करते हुए कहा है कि यदि करुण–रस को कोई दु:खात्मक माने तो रामायण आदि काव्यों को दु:खदायक ही मानना पड़ेगा जो किसी भी सहृदय समीक्षक को स्वीकार्य नहीं हो सकता।

यह प्रश्न उठ सकता है कि पिता–पुत्रादि का वियोग, राज्यत्याग, वनवास आदि जो दु:ख के कारण करुण रस में उपन्यस्त होते हैं, उनसे सुख की उत्पत्ति कैसे होगी? दु:खरूप कारण से तो दु:खरूप कार्य ही उत्पन्न होगा। इसका उत्तर दिया गया है कि लोकस्वभाव से लौकिक शोक–हर्षादि के कारण–रूप में प्रसिद्ध वनवास आदि से लौकिक शोक आदि भले ही उत्पन्न हों किन्तु नाट्य का एवं काव्य का संश्रय (सम्बन्ध) हो जाने पर वे ही अलौकिक विभावादि कहे जाते हैं। अत: उन सबसे सुख ही उत्पन्न होता है। इसे मानने में तो कोई हानि नहीं दिखती–

हेतुत्वं शोकहर्षादे: गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिका:।।
अलौकिक-विभावत्वं प्राप्तेभ्य: काव्यसंश्रयात्।
सुखं संजायते तेभ्य: सर्वेभ्योऽपीति का क्षति:।। (22)

रस के सन्दर्भ में देखते हैं कि वनवास आदि जो तथाकथित लौकिक 'दु:खकारण' हैं वे अलौकिक विभावन व्यापार से काव्य–नाट्य में अर्पित होते ही 'कारणता' त्याग कर अलौकिक 'विभाव' शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं। लोक में ही यह नियम है कि शोक या हर्ष के कारण से शोक या हर्ष रूप कार्य उत्पन्न होंगे **(लौकिक शोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते- इति लोके एव प्रतिनियम:।** (23) काव्य में तो सभी विभावों से सुख ही उत्पन्न होता है। वस्तुत: लोकाश्रित होने पर भी काव्य का धरातल लोक के धरातल से भिन्न होता है। यह मान लेने पर रस के दु:खात्मक होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

नाटक देखते हुए या काव्य सुनते हुए कुछ भावुक सहृदयों की आँखों में जो आँसू आ जाते हैं वे दु:ख के द्योतक नहीं है। उनका चित्त द्रवीभूत हो जाता है जो दु:ख या सुख में भी संभव है –**अश्रुपातादय: तद्वत् द्रुतत्वात् चेतसो मता:।** (24) अश्रुपात आदि कार्य कुछ भावुक व्यक्तियों में ही देखे जाते हैं, सब में नहीं। स्थायिभाव (रति, हास आदि) की वासना या संस्कार सबमें समान रूप से नहीं होते। ये

संस्कार पूर्वजन्म और वर्तमान जन्म दोनों को मिलाकर ही सहृदय जनों में होते हैं **(वासना चेदानीन्तनी प्राक्तमी च रसास्वादहेतुः)।** (25) वासना (रसास्वादन का संस्कार) से रहित व्यक्ति तो नाट्यशाला में खड़ी दीवार, खम्भे, पत्थर आदि की तरह जड़मात्र हैं।

दूसरी ओर, अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को सुख-दु:ख दोनों से युक्त अर्थात् उभयात्मक माना है। इस मत में उनकी दार्शनिकता का प्रबल आग्रह है। उनका कथन है कि शृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत इन चार रसों में सुख की प्रधानता के साथ दु:ख का अनुवेध रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स इन चार रसों में दु:ख की प्रधानता के साथ सुख का अनुवेध होता है। केवल शान्तरस पूर्णतः सुखात्मक है। (26)

रसों के विषय में नाट्यदर्पण के लेखक रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मत इन दोनों से भिन्न है। उसे हम 'विभज्यवादी' मत कह सकते हैं। उनके अनुसार रसों की दो श्रेणियाँ है- सुखात्मक तथा दु:खात्मक। सुखात्मक श्रेणी में शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत, और शान्त- ये पाँच रस हैं। दूसरी ओर करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक ये चार रस-सर्वथा दु:खात्मक हैं। इन आचार्यों ने सभी रसों की आनन्द-रूपता का खण्डन भी किया है। (27)

फिर भी साहित्यशास्त्र में रस की आनन्दरूपता का ही सिद्धान्त प्रबलतम है, रस कोई भी हो।

V. साधारणीकरण (Generalisation)

रस के सन्दर्भ में यह प्रश्न सामान्य रूप से उठता है कि काव्य या नाट्य में राम-सीता आदि का चरित वर्णित या अभिनीत होता है। वे तो विशेष काल और विशेष क्षेत्र (देश) के पात्र हैं। उनके विभावादि से भिन्न देश और भिन्न काल में स्थित सामाजिक में रत्यादि का उद्बोध कैसे होता है? उन दोनों का (पात्र और सामाजिक का) सम्बन्धक किस दृष्टि से संभव है? उसी के समाधान के लिए आचार्यों ने 'साधारणीकरण-व्यापार' माना है। (28)

जो सीता आदि आलम्बन विभाव और वनवासादि उद्दीपन विभाव काव्य या नाटक में निबद्ध होते हैं वे काव्यानुशीलन या नाटक-प्रेक्षण के समय श्रोता-द्रष्टा (सामाजिक) में अपने को संबद्ध रूप में प्रकाशित करते हैं। यही साधारणीकरण व्यापार है जो पात्र और सामाजिक को जोड़ता है। इसी के प्रभाव से प्रमाता अपने आपको समुद्र में कूदकर पार करने वाले हनुमान् आदि से अभिन्न समझने लगता है। यद्यपि समुद्र लाँघना सामाजिक के लिए साध्य (संभव) नहीं तथापि हनुमान् आदि पात्र से अभेद-बोध के कारण दर्शक में भी उत्साह होने लगता है। विश्वनाथ ने इस प्रसंग में कहा है-

उत्साहादि- समुद्बोधः साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।। (29)

अर्थात् हनुमान् आदि पात्रों के साथ सामाजिक (श्रोता, पाठक, दर्शक) को साधारण्य-अभिमान (अभिन्नता या समानता की प्रतिपत्ति) हो जाने से मनुष्यों का समुद्र-लंघन में उत्साह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है।

बहुधा नाटक या फिल्म देखते हुए पात्रों से अपने को दर्शक अभिन्न समझने लगते हैं। उनके हर्ष-शोक को अपना मानकर प्रभावित होने लगते हैं। अपनी स्थिति (देश-काल) को भूलकर कथा के साथ बह चलते हैं। यही साधारणीकरण का प्रभाव है। एक विशिष्ट का रूप या क्रिया-कलाप साधारण (सबका) बन जाता है, तब एक-एक सामाजिक उसे अपना मानता है।

साधारणीकरण को पहली बार भट्टनायक ने रस की व्याख्या के प्रसंग में भावकत्व व्यापार के रूप में उपस्थित किया। इसीलिए काव्य प्रकाश पर स्वतंत्र टीकात्मक ग्रन्थ 'काव्यप्रदीप' लिखने वाले गोविन्द ठक्कुर कहते है- **'भावकत्वं साधारणीकारणम्। तेन हि विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत् सीतादीनां कामिनीत्वादि-सामान्येन उपस्थितिः।"** (30) तदनुसार काव्यनाटक के पात्र अपने देश काल से जुड़े न रहकर सर्वसाधारण बन जाते हैं प्रत्येक द्रष्टा के अपने रूप में आ जाते हैं। विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी- सबका साधारणीकरण हो जाता है।

वस्तुतः रसास्वाद के समय रसिक व्यक्ति ममत्व और परत्व के बोध से शून्य हो जाता है। उसे न यह स्वीकार है कि विभावादि मेरे हैं, पर के नहीं या पर के हैं, मेरे नहीं। परत्व-ममत्व को स्वीकार करना या परिहार करना उस समय होता ही नहीं । विश्वनाथ ने कहा है-

परस्य न परस्येति, ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।। (31)

किसी भी स्थिति में रस का मूल उद्देश्य है कवि के भावों के साथ दर्शक या श्रोता का संबन्ध स्थापित करना। इस कार्य की व्याख्या साधारणीकरण–व्यापार से ही समीचीन रूप में होती है। नाटक देखकर या स्तोत्रपाठ सुनकर जब सामाजिक (दर्शक या श्रोता) भावाकुल या तन्मय हो जाता है तो साधारणीकरण का महत्त्व अनुभव से सिद्ध होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थः-

1. रसविमर्शः : पृष्ठ–1 पर उद्धरण । वस्तुतः यह हेमचन्द्र के अनेकार्थ संग्रह में दिया गया है।
2. साहित्यदर्पण 1.3, वाक्यं रसात्मकं काव्यम् तथा उसकी वृत्ति।
3. काव्यप्रकाश 1.2 की वृत्ति, सकलप्रयोजनमौलिभूतम्।
4. नाट्यशास्त्र 6.31 के बाद का सूत्र वाक्य
5. नाट्यशास्त्र 1.110
6. नाट्यशास्त्र 16.118
7. भामह. काव्यालंकार 1.21
8. काव्यादर्श 1.18 (पूर्वार्ध)
9. भामह काव्यालंकार 5.3
10. रूद्रट काव्यालंकार 16.1
11. भामह काव्यालंकार 14.38
12. नाट्यशास्त्र 6.31 के बाद का सूत्र, विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः।
13. नाट्यशास्त्र 6.31 के बाद का गद्य वाक्य।
14. नाट्यशास्त्र 6.32–33
15. विश्वनाथ साहित्यदर्पण 3.2–3
16. भारतीय साहित्यशास्त्र कोश पृ॰–985
17. काव्यप्रकाश 4.27–28
18. दशरूपक, अवलोकवृत्ति 1.6
19. दशरूपक 4.85
20. साहित्यदर्पण 3.4
21. साहित्यदर्पण 3.5
22. साहित्यदर्पण 3.6–7
23. साहित्यदर्पण 3.7 की वृत्ति।
24. साहित्यदर्पण 3.8
25. साहित्यदर्पण 3.9 की वृत्ति ।
26. आचार्य विश्वेश्वर–काव्यप्रकाश–टीका पृ॰ 121
27. रामचन्द्र–गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण, पृ॰ 159
28. साहित्यदर्पण 3.9 व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः।
29. साहित्यदर्पण 3.11
30. काव्यप्रदीप, पृ. 95
31. साहित्यदर्पण 3.12